संपादकीय

सत्य और न्याय का न्यायालयी सरोकार

न्यायालय में सत्य और असत्य को मापने का मुख्य पैमाना साक्ष्य होता है। साक्ष्य-प्रमाण कई तरह के हो सकते हैं, जैसे मुकदमे की प्रकृति के अनुरूप कागजी दस्तावेज, गवाही, प्राथमिकी, परिस्थितिजन्य साक्ष्य, तस्वीर, अखबार, इकबालिया बयान, विभागीय जाँच की रिपोर्ट आदि आधारों पर असलियत जानकर अदालतें निर्णय तक पहुँचती हैं। आरोपी को अपना पक्ष रखने का पूरा मौका मिलता है। चाहे तो वह आरोप स्वीकार कर सकता है, लेकिन प्रायः आरोपी अदालत में अपने ऊपर लगे आरोपों से इनकार करते हैं। इसी प्रकार आरोप लगाने वाले को आरोप सिद्ध करना पड़ता है, जहाँ वकील की भूमिका प्रमुख हो जाती है। सामान्य आदमी को कानूनी दावपेंच का पता नहीं होता। अदालतों में प्रस्तुत साक्ष्य निरापद नहीं होते। गवाहों का बयान बदलना, पुलिस की ज्यादती से आरोप स्वीकार करना, पैसे-पैरवी की बदौलत प्राथमिकी और डॉक्टरी रिपोर्ट में छेड़छाड़ आदि के कारण प्रमाण संदिग्ध हो जाते हैं। पैसे आदि का प्रलोभन, धमकी, स्वयं को पचड़ों में न रखने की मंशा आदि के कारण सच के प्रमाण प्रबल ढंग से प्रस्तुत नहीं हो पाते। इसलिए आम जनता यदि मजबूरी न हो, तो अदालत जाने से डरती है। अदालतों में चक्कर लगाने से परेशानी के साथ समय व पैसे की बर्बादी के अतिरिक्त होता क्या है। अदालतों में भी भ्रष्टाचार व्याप्त है, मुकदमे की लड़ाई महँगी है। सरकार ने गरीबों के मुकदमे लड़ने की कुछ व्यवस्था की है, पर वह सांकेतिक ही अधिक है। एक तो महँगा होने के कारण न्याय सर्वसुलभ नहीं, दूसरा अनावश्यक देरी न्याय की आस खत्म कर देती है। कई बार निर्णय में इतना विलंब हो जाता है कि उस निर्णय का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। कहा भी जाता है कि समय पर न मिलने वाला न्याय अन्याय है। ऐसे हजारों उदाहरण हैं जो जटिल न्याय प्रक्रिया के कारण निर्णय को बेमतलब बनाते हैं।

प्रमाण व तर्क गढ़े-बनाए जा सकते हैं, गढ़े-बनाए जाते हैं। फलतः फैसले में सदैव न्याय की पक्षधरता नहीं झलकती। न्यायालय का काम केवल दोषी को दण्ड और निर्दोष को दोष मुक्त करने तक सीमित नहीं होता, बल्कि इससे आगे व्यक्ति को सत्य के पथ पर चलने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करना होना चाहिए, तभी समाज में अपराधमुक्त वातावरण तैयार होगा। न्यायालय व पुलिस के काम का तरीका काफी स्टीरियोटाइप है, इसलिए मुकदमों पर फैसला आते रहने के बावजूद न तो मुकदमों की संख्या में कमी होती है और न अपराध में ही गिरावट आती है। दण्ड के अनुपात में अपराध और मुकदमों की संख्या में उत्तरोत्तर बढ़ोतरी हो रही है जो आदर्श न्याय-व्यवस्था के मानदण्डों के पूर्णतः प्रतिकूल है। महात्मा गाँधी के एक मुवक्किल ने अदालत में झूठ बोल दिया तो उन्होंने उसे न्यायाधीश के पास भेज कर माफी मँगवाई और आगे झूठ न बोलने का संकल्प दिलवाया। आज एक भी घटना ऐसी मिलेगी? गाँधी जी वकालत में कुशलता प्राप्त करने के साथ-साथ सच्चे मुकदमे लेने लगे थे। यह जरूरी था, क्योंकि वही मनुष्य सत्य देख सकता है जो अपना असत्य देखने की दृष्टि-क्षमता रखता हो। ओशो के अनुसार स्वयं में रावण को जानना और स्वीकार करना राम होने की ओर अनिवार्य चरण है। कोई भी व्यक्ति यदि बिना भय, लोभ, संकोच के सहर्ष अपना अपराध चाहे छोटा हो या बड़ा, स्वीकार करता है तो इसका मतलब है कि उसमें सच का सामना करने की ताकत है। डॉ. राधाकृष्णन ने कहा है कि 'बुरा होना बुरे व्यक्ति का केवल दुर्भाग्य ही है, कोई अपराध नहीं। विषयी मनुष्यों को संत बनाना कहीं ज्यादा सरल है, अपेक्षाकृत पाखण्डियों के। मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट पक्ष उसका वास्तविक पक्ष है, उसका सच्चा स्वरूप है।'

असली न्याय तो व्यक्ति को स्वयं करना है, सच का सामना करने से लेकर स्वीकार करने तक और अपराध बोध से लेकर प्रायश्चित तक। किसी गलती का सही समाधान यही है कि वह दुहराई न जाए, लेकिन एक अपराधी हत्या, चोरी, डकैती करके कुछ-कुछ सजा भुगत कर भी पुनः पुनः अपराधों को अंजाम देने में जुट जाता है। एक बार जेल जाने और अपराध करने पर उसकी भटक खुल जाती है, वह बार-बार अपराध करने की ओर प्रवृत्त होता है। आदमी जब अपराध कबूल करने के मूड में नहीं होता, फलतः उसके अन्तर्मन और बुद्धि में संघर्ष चलते रहता है। महात्मा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज्य' में लिखा है, 'देह की अदालत में मन और बुद्धि ही दो पक्ष हैं, जो अपने ही अहंकार से न्याय की उम्मीद बाँधे रखते हैं जो कभी पूरी नहीं होती और देह आजीवन सजा भुगतती है।' उनका भरोसा आत्म-अदालत वाले विवेक के न्याय पर अधिक है। आगे वे लिखते हैं -'लोग अगर अपने झगड़े निबटा लें तो तीसरा आदमी उन पर अपनी सत्ता नहीं जमा सकता। क्या कोई यह कह सकेगा कि तीसरा आदमी जो फैसला देता है, वह सही फैसला ही होता है? कौन सच्चा है, यह दोनों पक्ष के लोग ज्यादा जानते हैं।' जाहिर है, तीसरा भी उन्हीं से जानकारी लेकर उन्हीं के लिए फैसला करता है। तीसरे व्यक्ति द्वारा किया निर्णय थोपा हुआ होता है। इसलिए मनुष्य स्वयं अपने अच्छे-बुरे कार्यों का मूल्यांकनकर्ता व निर्णेता बने; और फिर समझौते की भी नौबत क्यों आए? आखिर झगड़ा, दंगा-फसाद लोग करें ही क्यों? आत्मानुशासन में रहा जाए, यही सबसे बड़ा अनुशासन है, अपनी जिंदगी में दूसरों के हस्तक्षेप रोकने का कारगर अस्त्र है। यही आत्मिक आनन्द का आधार और आत्म-बल का विस्तार है।